लक्ष्मीजी का शिव – पूजन

एक बार लीलामय भगवान् विष्णु ने लक्ष्मीजी को भूलोक में अश्वयोनि में जन्म लेने का शाप दे दिया। भगवान् की प्रत्येक लीला में जो रहस्य होता है, उसको तो वे ही जानते हैं। श्रीलक्ष्मीजी को इससे बहुत क्लेश हुआ, पर उनकी प्रार्थना पर भगवान् विष्णु ने कहा – 'देवि! यद्यपि मेरा वचन अन्यथा तो हो नहीं सकता, तथापि कुछ कालतक तुम अश्वयोनि में रहोगी, पश्चात् मेरे समान ही तुम्हें एक पुत्र उत्पन्न होगा। उस समय इस शाप से तुम्हारी मुक्ति होगी और फिर तुम मेरे पास आ जाओगी।' (देवीभागवत 6/17/69)

भगवान् के शाप से लक्ष्मी ने भूलोक में आकर अश्वयोनि में जन्म लिया और वे कालिन्दी तथा तमसा के संगम पर भगवान् शंकर की आराधना करने लगीं। वे भगवान् सदाशिव त्रिलोचन का अनन्य – मन से दिव्य एक हजार वर्षोंतक ध्यान करती रहीं।

उनकी तपस्या से महादेवजी बहुत प्रसन्न हुए और लक्ष्मी के सामने वृषभ पर आरूढ़ हो, पार्वतीसमेत दर्शन देकर कहने लगे – 'देवि! आप तो जगत की माता हैं और भगवान् विष्णु की परम प्रिया हैं। आप भुक्ति – मुक्ति देनेवाले, सम्पूर्ण सचराचर जगत् के स्वामी विष्णुभगवान् की आराधना छोड़कर मेरा भजन क्यों कर रही हैं? वेदों का कथन है कि 'स्त्रियों को सर्वदा अपने पति की ही उपासना करनी चाहिये। उनके लिये पति के अतिरिक्त और कोई देवता ही नहीं है। पति कैसा भी हो, वह स्त्री का आराध्य देव होता है।[1] भगवान् नारायण तो पुरुषोत्तम हैं, ऐसे देवेश्वर पति की उपासना छोड़कर आप मेरी उपासना क्यों करती हैं?

लक्ष्मीजी ने कहा 'हे आशुतोष! मेरे पतिदेव ने मुझे अश्वयोनि में जन्म लेने का शाप दे दिया है। इस शाप का अन्त पुत्र होने पर बताया है, परंतु इस समय मैं पतिदेव के सांनिध्य से वञ्चित हूँ। वे वैकुण्ठ में निवास कर रहे हैं। हे देवदेव! आपकी उपासना मैंने इसलिये की है कि आप में और श्रीहरि में किंचिन्मात्र भी भेद – भाव नहीं है। आप और वे एक ही हैं, केवल रूप का भेद है, यह बात श्रीहरि ने ही मुझे बतायी थी। आपका और उनका एकत्व जानकर ही मैंने आपकी आराधना की है।[2] हे भगवान्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मेरा यह दुःख दूर कीजिये।' आशुतोष भगवान् शिव लक्ष्मी के

---

1. **वेदोक्तं वचनं कार्यं नारीणां देवता पतिः।**
नान्यस्मिन् सर्वथा भावः कर्तव्यः कर्हिचित् क्वचित्।।
पतिशुश्रूषणं स्त्रीणां धर्म एव सनातनः।
यादृशस्तादृशः सेव्यः सर्वथा शुभकाम्यया।। (देवीभा. 6/18/22 – 23)

2. श्रीहरि एवं भगवान् शिव के अभिन्न होने का ज्ञान लक्ष्मीजी को कैसे हुआ, इसकी जानकारी के लिये इसी पुस्तक के प्रथम भाग के लेख, 'श्रीमद्देवीभागवत में शैवतत्त्व' को देखें।

इन वचनों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और विष्णुदेव से इस विषय में प्रार्थना करने का वचन दिया और श्रीहरि को प्राप्त करने तथा एक महान् पराक्रमी पुत्र प्राप्त करने का वर भी उन्हें प्रदान किया। तदनन्तर वे पार्वती के साथ कैलास चले आये और उन्होंने बुद्धिमान् चित्ररूप को दूत बनाकर वैकुण्ठ भेजा। चित्ररूप से भगवान् शिव का संदेश पाकर तथा देवी लक्ष्मी की स्थिति जानकर भगवान् विष्णु अश्व का रूप धारणकर लक्ष्मीजी के पास गये और कालान्तर में देवी लक्ष्मी को 'एकवीर' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी से 'हैहय-वंश' की उत्पत्ति हुई। अनन्तर लक्ष्मीजी के शाप की निवृत्ति हो गयी और वे दिव्य शरीर धारण कर भगवान् के साथ वैकुण्ठ पधार गयीं। उनकी शिव-साधना सफल हो गयी। यह कथा देवीभागवत के छठे स्कंध के अध्याय 17-19 पर आधारित है।

लक्ष्मीजी की शिवपूजा-संबंधी अन्य महत्त्वपूर्ण कथा हमें 'बृहद्धर्मपुराण' में मिलती है। कथा इस प्रकार है। एक बार विष्णुजी ने लक्ष्मीजी के सामने भगवान् शंकर की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि मुझे एकमात्र शिव ही प्रिय हैं, दूसरा कोई नहीं। यही नहीं, उन्होंने यहाँतक कह डाला कि शिव और मुझमें कोई भेद नहीं है और जो शिव की पूजा नहीं करते वे मुझे कदापि प्रिय नहीं हैं। भगवान् विष्णु के इन वचनों को सुनकर लक्ष्मीजी बड़ी खिन्न हुईं और अपने को शिव के प्रति उदासीन जानकर आत्मग्लानि से भर गयीं। तब विष्णुजी उनको सान्त्वना देते हुए कहने लगे कि-देवि! सोच न करो; मैंने तुम्हें शिव-पूजा में लगाने के लिये ही ये सब बातें कही हैं। अब आज से तुम प्रतिदिन विधिपूर्वक शंकरजी की पूजा आरम्भ कर दो और उसमें कभी चूक न पड़ने दो। ऐसा करने से तुम मुझे शंकर के समान ही प्रिय हो जाओगी।

लक्ष्मीजी ने पति की आज्ञा मानकर, नारद मुनि से दीक्षा ग्रहणकर शिव-पूजा प्रारम्भ कर दी। पूजा के प्रभाव से उनकी दिनों-दिन शिवजी में भक्ति बढ़ने लगी और शंकरजी के साथ-साथ वे विष्णुजी की भी अतिशय कृपा-पात्र बन गयीं। इस कथा का विस्तृतरूप इसी पुस्तक के प्रथम भाग में 'बृहद्धर्मपुराण में शिवतत्त्व' वाले अध्याय में दिया गया है।

(उपर्युक्त लेख गीताप्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित कल्याण के शिवांक एवं शिवोपासनांक पर आधारित है।)

❀❀❀❀❀❀

जो बर्ताव अपने लिये प्रतिकूल जान पड़े, उसे दूसरों के लिये भी न करे।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

(पद्मपु. स्वर्गखण्ड 55/33)